

क़ैद—दर—क़ैदः
चहारदीवारियों से मानसिकताओं तक छिड़ी जंग

मेरे घर में जब मेरे ससुरजी और अन्य सभी को पता चला कि मैं नौकरी करने जा रही हूँ तो ससुरजी ने घर में खूब गाली-गलौज की कि अगर बहू नौकरी करेगी तो मैं फॉसी लगा लूँगा। मेरे घर में इतना सब कुछ है। मेरे घर की महिला को काम करने की ज़रूरत नहीं है। पति भी नाराज़ थे। मेरा कहना था कि मेरे बच्चे बड़े हो रहे हैं—इन्हें मैं कैसे पढ़ाऊँगी-लिखाऊँगी? पर मेरे पति और ससुर के पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं थागुस्से में जाते-जाते पति कह गये: "मैं इस घर से बहुत ज्यादा परेशान हो गया हूँ। तुम जो चाहो, सो करो। चाहे हमारी इज़्ज़त मिट्टी में मिलाओ, चाहे रखो।"

मैं सोचने लगी—यह सारे लोग आखिर किस इज़्ज़त की दुहाई दे रहे हैं? जब मेरा बेटा मायके में रहकर पढ़ता है और खर्च उठाती है मेरी माँ, तब कहाँ चली जाती है इज़्ज़त? जब मैं बिना साबुन तेल के रहती हूँ, तब इज़्ज़त नहीं जाती और जब मैं दो पैसा कमाने की बात करती हूँ, तब इज़्ज़त का जनाज़ा निकलता दीखता है!

— पल्लवी की डायरी से

घरों की चहारदीवारियाँ लॉघ कर बाहर काम करना हममें से किसी के लिये आसान नहीं रहा। अपने अलग-अलग तरह के हालात और परिवेश के कारण अलग-अलग तरह के ख़तरे और संघर्ष मोल लेकर हम सबने अपने कार्यक्षेत्रों में प्रवेश किया; फिर जो एक बार अपने काम में घुसे, तो ऐसे रमे कि हमारी ज़िन्दगी की धारा हमेशा के लिये बदल ही गयी। एक समय वह था, जब हमें इतना भी आत्मविश्वास नहीं था कि महिलाओं पर केन्द्रित एक सरकारी कार्यक्रम में हमें कोई मामूली-सी नौकरी भी मिल सकेगी, लेकिन कुछ अन्तराल के बाद एक समय ऐसा भी आ गया जब अपने काम में डूब कर हम इतना आगे निकल आये कि नौकरी की अहमियत हमारी नज़रों में धुँधली पड़ने लगी। हमारे रोम-रोम में समाज को बदल डालने का नशा हावी हो गया...।

मानसिकताओं, विचारधाराओं और संघर्षों का यह सफ़र सबसे पहले हमारे निजी तथा सामूहिक-जीवन और रिश्तों में भूचाल लेकर आया। एक तरफ़ हमने अपने कुचले हुए सपनों को पूरा करने और छिने हुए निजी हक़ वापस लेने का संकल्प ले लिया। अपनी आजीविका कमाना, शिक्षा पाना, अपनी आज़ादी के मायने जानना—ये सब वे सपने और अधिकार थे, जिनके लिये लड़कर हमने

बदनामी, कलंक, और पारिवारिक मान-मर्यादाओं की परिभाषाओं पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए अपनी भीतरी आवाज़ को पहचानना और जूझना शुरू किया। जितनी चहारदीवारियाँ लॉघते गये और जितने विरोध सहते गये, हमारे अन्दर का आत्मविश्वास उतना ही मजबूत होता चला गया।

इसी के साथ हमने उन मानसिक और सामाजिक दलदलों को पहचानने का सिलसिला शुरू किया, जिनमें हमारे अनुभव, हमारी सामाजिक और धार्मिक मान्यताएँ, और हमारे संस्कार गहरे तक फँसे हुए थे। यह सब ऐसी कठिन खाइयाँ थीं कि लाख कोशिशों के बाद भी पाटे नहीं पटती थीं और न इनमें समाया ज़हर ही कम होता था। सच्चाई तो यह है कि इस पुस्तक से जुड़े डायरी-लेखन के माध्यम से ही हम अपने मन की परतों के भीतर बरसों से पालथी मारे बैठी ज़हरीली गाँठों को पहली बार निडर होकर एक-दूसरे के सामने खोलने-खुलवाने की हिम्मत जुटा पाये हैं।

संगतिन—यात्रा के इस चौथे अध्याय में अपने कार्यक्षेत्र की ऐसी ही गुँथी हुई कहानियों के अंश हम आपके साथ बाँट रहे हैं — किस तरह हम अपने घरों से बाहर निकले, कैसे हम अपने काम से जुड़े, जुड़ाव की इस प्रक्रिया के दौरान हम किन कशमकशों से गुज़रे, और इन तमाम रास्तों ने किस तरह हमें अपने समाज में पैठी जाति, धर्म और वर्ग की ग़ैरबराबरी के ढाँचों को नयी नज़रों से देखने-समझने को बाध्य किया...

000

जाति-वर्ग के दलदल में नारीवाद का आगमन

सन् 1996 में महिला मुद्दों पर काम करने वाले एक जाने-माने और प्रभावशाली स्वैच्छिक-कार्यक्रम ने ऋचा सिंह के नेतृत्व में अपने पाँव सीतापुर जिले में जमाने शुरू किये थे। कार्यक्रम की स्थापना के साथ ही मिश्रिख की ग्रामीण महिलाओं को संगठित करने के लिये क्षेत्रीय-कार्यकर्ताओं की खोज भी शुरू हो गयी थी। जिन गाँवों में महिलाओं को सशक्त बनाने का काम होना था, उन्हीं इलाकों में रहने वाली ऐसी कार्यकर्ताओं की तलाश की जा रही थी, जो महिला मुद्दों को उठाकर उन्हें एक निश्चित मुकाम तक पहुँचाने में महिला समूहों की मदद कर सकें।

इस पुस्तक की सात डायरी लेखिकाओं में से मधुलिका, शिखा, और पल्लवी का चयन अगस्त 1996 में क्षेत्रीय-कार्यकर्ताओं के रूप में हुआ। हालाँकि, चयन की इस प्रक्रिया में संध्या भी शामिल हुई थी, लेकिन एन.एस.वाय. के काम के पहले दौर में वह गाँव में साक्षरता केन्द्र चलाने के लिए चुनी गयी। शिक्षिका के पद पर डेढ़ वर्ष काम करने के बाद उसने क्षेत्रीय-कार्यकर्ता का दायित्व सँभाला। इसी तरह शुरुआत में एन.एस.वाय. में गरिमा का आगमन दैनिक-वेतन पर कार्यालयकर्मि के रूप में हुआ। गरिमा कार्यालय स्तर पर ही स्थायी रूप से जुड़ना चाहती थी, पर अनौपचारिक चयन-प्रक्रिया में जब उसका चयन नहीं हुआ, तो मजबूरन क्षेत्रीय-कार्यकर्ता की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी। राधा ने 1998 में क्षेत्रीय-कार्यकर्ता के रूप में काम करना शुरू किया। बाद में राधा की ही कोशिश से चाँदनी भी शिक्षिका के पद पर संगठन से जुड़ गयी।

महिला समूहों के निर्माण हेतु गाँव-स्तर की कार्यकर्ता तलाशी जा रही हैं; नौकरी मिल सकती है—यह खबर सात डायरी लेखिकाओं तक अलग-अलग हालात के बीच भिन्न-भिन्न माध्यमों से पहुँची। सबने अपने डरों से लड़ते हुए आगे बढ़ने की हिम्मत जुटायी।

राधा लिखती है—“हमें अपना खर्च चलाने की बड़ी परेशानी थी। बहुत दुखी रहती थी कि आखिर कब तक ऐसा चलेगा? मैं तो बाहर काम करने के लिए सोचती थी, लेकिन पति नहीं तैयार होते थे। इसलिए हार मानकर घर बैठ गयी थी। इधर एन.एस.वाय. को महिला-कार्यकर्ता की तलाश थी। दीदी हमारे घर पहुँचीं। मुझसे और मेरे पति से पूरी बातचीत हुई। वे फिर भी तैयार नहीं हुए। लेकिन दीदी (ऋचा सिंह) से बात करके मेरी हिम्मत इतनी बढ़ गयी कि मैं पति की इजाजत के बिना ही काम करने के लिए निकल पड़ी।”

इसी तरह मानपुर गाँव में दीवार-लेखन का काम कर रही जिला-स्तरीय टीम के लोगों की मधुलिका से बातचीत हुई। मधुलिका जब एन.एस.वाय. के जिला-कार्यालय जाने को तैयार हुई, तो घर से साथ जाने को कोई भी तैयार नहीं हुआ। मधुलिका खूब रोई। अन्त में छोटी ननद, सीमा, और पति तैयार हो गये। नौकरी करने का शौक तो बचपन से ही था, लेकिन कार्यालय पहुँचने के साथ यह डर लगने लगा कि पता नहीं कैसे लोग होंगे वहाँ! आठवीं-पास मधुलिका को बार-बार यही लगे कि हम तो इतना ज्यादा पढ़े-लिखे भी नहीं हैं, हमारी नौकरी भला क्या लगेगी?

उधर पल्लवी, संध्या, शिखा और चाँदनी का एन.एस.वाय. से साक्षात्कार कुछ अलग ढंग से हुआ। एन.एस.वाय. को कार्यकर्ता की तलाश है, यह जानकारी पल्लवी तक पहुँचायी उसकी बड़ी बहन सुनीता ने, जो एक अन्य स्थानीय एन.जी.ओ. में काम कर रही थी। इसी सुनीता के ज़रिये उनकी रिश्तेदार शिखा को भी यह शुभ सूचना पहुँची। इसी तरह सहजनपुर गाँव में संध्या के ही मुहल्ले की एक विधवा लड़की थी जमुना, जिसे सात दिन काम करके घर वालों के दबाव के कारण एन.एस.वाय. का काम छोड़ देना पड़ा था। उसने संध्या को बताया: “मैं तो काम नहीं कर पा रही हूँ, अगर आप चाहें तो कर लें।”

संध्या और गरिमा अपने-अपने घरों में आर्थिक परेशानियों के दौर से गुज़र रही थीं, लिहाजा संध्या की ननद किरन, जो प्राथमिक विद्यालय की अध्यापिका थी, ने दोनों को एन.एस.वाय. में नौकरी के लिये कोशिश करने की सलाह दी।

चाँदनी का अनुभव इन सबसे अलग रहा—एन.एस.वाय. से उसका परिचय राधा के माध्यम से उस समय हुआ, जब उसे पता चला कि राधा को अपने गाँव जगरौली में साक्षरता-केन्द्र चलाने के लिए एक कार्यकर्ता की तलाश है।

एन.एस.वाय. में कार्यरत सात डायरी लेखिकाओं के परिचय की इस कहानी में गौरतलब यह है कि अनुसूचित-जाति की दोनों कार्यकर्ता—राधा और मधुलिका ही ऐसी थीं, जिन तक 1996 से 1998 तक के शुरुआती दौर में यह महिला-संगठन स्वयं पहुँचा। उस समय सवर्ण जातियों से जुड़ी अन्य सभी कार्यकर्ता—पल्लवी, संध्या, गरिमा, शिखा—तक सूचनाएँ खुद-ब-खुद उनके निजी माध्यमों द्वारा पहुँच गयीं, क्योंकि कहीं एक की बहन स्थानीय एन.जी.ओ. में कार्यकर्ता थी, तो दूसरी की ननद प्राथमिक विद्यालय की अध्यापिका। हालाँकि कार्यक्षेत्रों में एन.एस.वाय. की यह छवि बनी थी कि वह दलित और

शोषित समूहों के बीच काम करेगी। एन.एस.वाय. की कोशिश बराबर यह भी रही कि कार्यकर्ता भी इन्हीं समूहों से ली जाएँ, लेकिन सच्चाई यह है कि अनुसूचित जातियों से कार्यकर्ता लेने की कोशिश के बावजूद मात्र दो कार्यकर्ता इस श्रेणी से आ पायीं। इनमें से भी मधुलिका 1996 में आयी, और राधा 1998 में ही जुड़ सकी। बाद में शिक्षिका के पद पर चाँदनी का जुड़ाव सीधे राधा के माध्यम से हुआ। सूचनाओं के इस सफ़र में इस बात को हम हरगिज़ अनदेखा नहीं कर सकते कि किस तरह से नये अवसरों से सम्बन्धित जानकारियाँ सबसे तेज़ी से उन खास वर्गों और जातियों तक पहुँचती हैं, जिनका पहले से ही संसाधनों पर कब्ज़ा होता है। निश्चित रूप से कार्यक्रम को उस समय कार्यकर्ताओं की तलाश थी और ऊँची जाति से जुड़ी ये महिलाएँ भी आर्थिक रूप से थोड़ी परेशान तो थीं ही। इसलिए कहीं काम करके व पैसा कमा करके अपनी जिन्दगी को और बेहतर करने की चाहत भी थी।

अन्ततः परिस्थितियाँ ऐसी बनीं कि ये सब की सब कार्यक्रम से जुड़ गयीं।

000

चहारदीवारियों की जकड़न से यों निकले पहले क़दम

घर से बाहर निकलकर काम करने की तमन्ना तो हम सबकी थी। इसके सारे अवसर भी थे। परन्तु अड़चनें भी तो कितनी थीं!

सबसे पहले तो यही डर भीतर घर किये बैठा था कि हम जैसों को भला कौन नौकरी देगा! जब इस भय की गिरफ़्त से खुद को बाहर निकाला, तो सामने घरवालों का विरोध सामने मुँह बाये खड़ा था। हर एक के घर में बस यही तर्क सामने रख दिया जाता: "नौकरी कर ली तो लोग क्या कहेंगे?"

जाति और मज़हब की दूरियों के होते हुए भी हम में से कई के घरों में परदे की कड़ाई एक जैसी थी, भले ही उस कड़ाई के पीछे वजहें जुदा-जुदा रही हों। चाँदनी के लिये यही सोच पाना बेहद कठिन था कि उसे अपने घर से दूर दूसरे गाँव में साक्षरता-केन्द्र चलाने की इजाज़त मिल पायेगी? एक तो दिन-रात हिन्दुओं के बीच में उठना-बैठना, ऊपर से रोज़ाना मीलों का सफ़र तय करके अकेले आना-जाना!

उधर आर्थिक-सम्पन्नता और ऊँची-जाति की मर्यादा के खोखले बोझ में दबी शिखा ऐसे मनहूस पिंजरे में कैद थी कि पूरी खिड़की खोलकर बाहर देखने तक की मनाही थी। घर के नौकरों के सामने भी उसे परदा करना पड़ता। अन्य सवर्ण जातियों की बहुओं की तरह शिखा भी घर की इज़्जत के नाम पर परदे में रहती, ताकि उसके ससुराल वाले अकड़ कर कह सकें कि हमारी बहू का तो कोई मुँह ही नहीं देख सकता। तीन बच्चों की माँ शिखा शादी के बाद दस सालों तक मान-मर्यादा के ऐसे दबाव और कटघरों में जकड़ी पड़ी रही। इन सबसे बाहर आने की उसकी कशमकश कितनी चुनौतियाँ भरी रही होगी, इसकी कल्पना भर की जा सकती है!

दलितों के परदे के लिए हमारे इलाके में कहा तो यह जाता है: "इनका परदा भी कोई परदा होता है! आज डोली गयी है, कल लँगोटा बाँधे घास छीलेंगी।"

यह कहावत अपनी जगह, लेकिन हर एक पर लागू नहीं होती। राधा पर भी नहीं लागू हुई। राधा के घर में इतना सख्त परदा था कि उसे घर-परिवार की औरतों के पास बैठने तक की इजाजत नहीं थी। कोई भी घर में दाखिल होता, तो उसे उठकर भीतर चले जाना पड़ता। पर इस परदे की वजह इज्जत का दिखावा नहीं, बल्कि सास-ससुर के दिल में बैठा यह डर था कि अगर राधा को दूसरों से मिलने-जुलने से नहीं रोका गया, तो वह लोगों के बहकावे में आकर ससुराल छोड़ मायके चल देगी।

इन हालात में घर के लोगों को नौकरी के लिये राजी करना टेढ़ी-खीर साबित हो रहा था। ऊपर से रही-सही कसर आस-पड़ोस की औरतें पूरी किये दे रही थीं। बात-बात में ताना मारतीं: "अगर हमारी बहू नौकरी करने के लिये इस तरह उधराती,¹ तो उसके हाथ-पैर तोड़ के घर देते।"

घर के लोगों को भड़काने में ये ताने आग में घी का काम कर रहे थे। पल्लवी के घर में उसके ससुर इतना भड़के कि इज्जत की दुहाई दे-देकर सिर पर आसमान उठा लिया। पति ने भी उनकी हाँ में हाँ मिलाकर उनका भरपूर साथ दिया। उधर मधुलिका के घर में भी लगभग यही स्थिति थी। उसका देवर, जो खुद बेरोजगार था, भाभी की नौकरी बर्दाश्त नहीं कर पाता था। मधुलिका जब पहली मीटिंग से वापस लौटकर घर गयी, तो उसके पास एन.एस.वाय. से मिली हुई डायरी थी। उस समय मधुलिका के देवर के कुछ पैसे घर में रखे हुए थे। देवर ने डायरी देखी, तो बिना कुछ पूछे-ताछे ही समझ लिया कि भाभी ने घूस में उसका पैसा देकर अपनी नौकरी लगवा ली है। इस गलतफहमी के कारण खूब झगड़ा हुआ। काम शुरू होने के बाद मधुलिका को जब दूर-दराज के गाँवों में जाना होता, घर वालों से तनिक मदद तब भी नहीं मिलती थी।

ऐसी पारिवारिक बंदिशों और तानाकशियों के बावजूद सबको एक-सा विरोध झेलना पड़ा हो, ऐसा भी नहीं था। पल्लवी, राधा, और मधुलिका की अपेक्षा संध्या, गरिमा और शिखा को अपने पतियों की ओर से कम दिक्कतें हुईं। जहाँ पल्लवी, राधा, और मधुलिका को विरोध का सामना करना पड़ा, वहीं संध्या, गरिमा और शिखा को अपने पतियों की ओर से नौकरी करने के लिये सहयोग मिला।

चाँदनी के हालात कुछ अधिक उलझे हुए थे। बुनाई करके अपना थोड़ा-बहुत पैसा खुद कमाने की आदत चाँदनी को मायके से ही थी। लिखती है: "हमारे हाथ में पैसा नहीं होता था, तो हमें कुछ अच्छा नहीं लगता था।"

ससुराल में बुनाई के बजाय खेती का काम होता था, जो चाँदनी कर नहीं पाती थी। एक बार ऑगनबाड़ी कार्यक्रम में सहायिका का काम करने का मौका मिल रहा था। पति से पूछा, तो उन्होंने छूटते ही साफ़ मना कर दिया। कहा—"चमार-पासी के घर में जाकर बच्चे लाना; यह काम हमारी समझ में नहीं आता। अगर साक्षरता-केन्द्र जैसा काम मिलता हो, तो करो।"

घर में परेशानियाँ बढ़ती ही जा रही थीं। तभी राधा एक गाँव के लिए शिक्षिका ढूँढ़ते-ढूँढ़ते चाँदनी के पास फरिश्ता बनकर पहुँच गयी। राधा ने उसके पति से बात की, तो तैयार हो गये।

¹ अपनी मनमानी करना।

कहा—“जाओ अगर पढ़ाई का काम है, तो ज़रूर करो। घर वालों को दिखाना है।” चाँदनी को लगता है कि शायद दूसरों को कुछ करके दिखा सकने की उम्मीद में पति ने ‘हाँ’ कर दी, वना दूसरे गाँव में केन्द्र चलाने की इजाज़त मिल पाना उसके लिये तो मुश्किल ही था। फिर भी ताने सुनाने में परिवार के अन्य सदस्यों और गाँव वालों ने कोई कसर न छोड़ी।

पारिवारिक—विरोध की इस राजनीति को अगर जाति और धर्म से जोड़ने की कोशिश करें, तो दिलचस्प तस्वीरें उभरती हैं। इन सातों में से तीन—यानी, गरिमा, संध्या, और शिखा—ऐसी महिलाएँ थीं, जो सवर्ण हिन्दू और अपेक्षाकृत कम तंगी के माहौल से आयी थीं। इनके ससुराल वालों ने इनके साथ कोई रोक-टोक नहीं की, बल्कि सम्मानजनक नौकरी देख कर अपनी रूढ़िवादी मान्यताएँ तोड़ीं और इन्हें पूरा सहयोग दिया। सवर्ण होते हुए भी पल्लवी आर्थिक—रूप से इन तीनों की तुलना में ज़्यादा कष्ट में थी। उसके घर में विरोध भी तगड़ा था। इसका एक कारण यह हो सकता है कि पल्लवी के घर के चारों ओर ब्राह्मणों का बाहुल्य है और उसके ससुराल के लोग बराबर ब्राह्मणवादी परम्पराओं और मान्यताओं को निभाने की भरसक कोशिश करते रहते हैं। इसके विपरीत दलित समुदायों से निकली राधा और मधुलिका तथा मुस्लिम समुदाय से निकली चाँदनी के घरों में जो विरोध हुआ, उसका आंशिक कारण यह था कि ऊँची जातियों और मध्यम-वर्ग की देखा-देखी इनके परिवारवाले भी अपने घर की बहुओं को घर के अन्दर बन्द करके अपना ‘मान’ बनाये रखना चाहते थे, ताकि गाँव में उच्च-वर्ग का कोई सदस्य इन पर कोई उँगली न उठा सके।

यह विचित्र लग सकता है पर वजूद में था कि कार्यकर्ता बनने के बाद भी इस समूह की अधिकतर सदस्याएँ अपने ससुराल में परदे को किसी न किसी रूप में सम्भाले रहीं; बल्कि काम से जुड़ने के बाद कुछ मायनों में परदे का लिहाज़ करने की ज़रूरत और ज़्यादा बढ़ गयी। दुनिया के इस इल्ज़ाम का सामना जो करना था: “ये तो दुनिया जहान में घूमती हैं, रात-रात भर वहीं पड़ी रहती हैं।”

अतः थोड़ा-बहुत परदा करने से मोहल्ले-टोले के लोगों के प्रपंच से भी बचाव हो जाता था तथा ससुराल वाले भी गर्व से फूले रहते कि देखो, बहू कमाकर भी लाती है और घर की मर्यादा भी बनाये रखती है।

चाँदनी के लिये यह मामला ज़रा अलग तरह का और पेंचीदा था। वह जानती थी कि लोग मौका मिलते ही क़ौम से बेईमानी करने का आरोप लगायेंगे और कहेंगे: “उनकी बीबी तो बड़ी आवारा है। हिन्दुओं के बीच काम क्या करने लगी, नक़ाब तक उतार कर रख दिया।” इस नाते रीति के अनुसार चाँदनी अपने गाँव में नक़ाब सिर से ओढ़े रखती, लेकिन मुँह न ढँकती। गाँव से बाहर निकलते ही चाँदनी का नक़ाब भी बाकियों के घूँघट और पल्लों की तरह ही सिमट कर बैग में आ जाता। पर गाँव के लोग चाँदनी और उसके काम को पूरी इज़्ज़त देते। बराबर यही कहते — “भले ही हिन्दुओं के साथ काम करती हो, पर अपने मज़हब को ईमानदारी से पकड़कर कर चलती है।”

000

घर-पड़ोस के तमाम विरोधों और ताने-बाजियों को सहकर ये सातों जब पहली बार कार्यालय पहुँची, तो डर के मारे सभी का बुरा हाल था। न जाने कितने ख़याल मन में आ-जा रहे थे—पता नहीं

किन लोगों के बीच जा रहे हैं? कैसे होंगे वे लोग? क्या पूछेंगे? हम तो इतने काबिल भी नहीं हैं! हमसे कोई बात करेगा, तो मुँह से बोल भी फूटेगा या नहीं?...यानी, हममें से एक को भी अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं था। बचपन से ही हमारे मगज़ों में टूँसी गयी उन सारी हीन-भावनाओं ने हमें जकड़ रखा था: "हम औरत हैं, ग़रीब हैं, कम पढ़े-लिखे हैं, इसलिये बाकी दुनिया से कमज़ोर और कमतर हैं।"

राधा और मधुलिका लिखती हैं: "अपनी नौकरी को लेकर कहीं न कहीं हमारे भीतर ये सारे डर तब तक जमे रहे, जब तक हमारे हाथ में पहली तनख्वाह का पैसा नहीं आ गया।"

ऐसा नहीं कि ये सारे डर सिर्फ़ आत्मविश्वास की कमी के कारण थे। कुछ डर सरकारी नीतियों और ग्रामीण-विकास योजनाओं के खोखलेपन से प्रेरित गहरे अविश्वास से भी जुड़े थे। जैसे—राधा के पति ने काम के लिये पहले तो किसी तरह 'हाँ' कर दी, पर आने वाले समय में उनकी हिम्मत जवाब देने लगी। उनका कहना था: "यह बाहरी लोगों की संस्था है। यहाँ पहले व्यवहार बनाएँगे फिर कहीं बाहर-विदेश में ले जाकर औरतों को बेच देंगे।"

राधा जिस दिन से बाहर निकलने लगी, उस दिन से घर में इसी बात पर झगड़ा होने लगा। जब किसी गाँव में जाती, यही सोचती कि काम कैसे कर पाऊँगी!

इसी तरह चाँदनी भी सिर्फ़ राधा के भरोसे पहली बार अपने गाँव से कार्यालय तक चली आयी थी। उसने ग़रीब मुसलमान औरतों के प्रति सरकार के रवैये के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। पहली बार जब दफ़्तर में रात बितानी पड़ी, तो चाँदनी और उसके पति को यही डर लगे कि कहीं नौकरी के चक्कर में ज़बरदस्ती नसबन्दी न कर दें। इसी डर के कारण चाँदनी अपने साथ पड़ोसन को लेकर आयी। लिखती है: "बार-बार यही चिन्ता सताती कि देखो, अब क्या होता है। सारी रात नींद नहीं आयी। बस, इज़्ज़त का ही डर बना रहा...।"

मन के भय को जैसे-जैसे हम अपने भीतर से निकालते गये, वैसे-वैसे शुरू हुआ हमारे जीवन का एक और सफ़र—अपनी घुटी हुई आवाज़ के स्वरो को पहचानने का सफ़र, मन के दबे हुए सपनों को साकार करने का सफ़र, नयी सोच और नयी हिम्मत के साथ ताक़त देने-लेने का सफ़र!

इसी कार्यक्रम में दैनिक वेतन पर काम की शुरुआत करने वाली गरिमा जब अपने शुरुआती दिन याद करती है, तो भूल नहीं पाती कि "गऊ जैसी सीधी लड़की" की उपाधि से नवाज़ी गयी गरिमा के लिये अपनी चुप्पी तोड़ना कितना कठिन था। लिखती है: "सभी दिक्कतों को किनारे करते हुए मैं नौकरी शुरू करने सीतापुर आयी। मम्मी और बिटिया साथ आयी थीं। कार्यालय से लगभग डेढ़ किलोमीटर दूर पर रोटी गोदाम में मेरे एक चाचा रहते हैं। हम उनके घर चले गये। रिक्शे का खर्च उठाना मुश्किल था, इसलिये सुबह वहाँ से पैदल ही चल देती और कार्यालय आ जाती। वहाँ से पैदल घर वापस जाती। मुझे शहरी-ज़बान भी बोलना नहीं आता था, इसलिए अपनी ज़बान बोलते संकोच लगे। पर रास्ते में मैं अपने से ही शहरी ज़बान में बातें करूँ, ताकि मेरी आदत पड़ जाये।"

शुरुआती दौर में संध्या के सिर पर धुन सवार थी तो अपने आप को साबित करने की, बस! संध्या का चूँकि क्षेत्रीय-कार्यकर्ता के पद पर चयन नहीं हुआ था, इसलिये उसकी कोशिश लगातार यही रहती कि कोई भी काम उसे मिल जाये। लगातार प्रयास करने पर उसे साक्षरता-केन्द्र चलाने के लिए

रख लिया गया। इस काम से जुड़कर संध्या को बहुत इत्मीनान मिला, लेकिन तनख्वाह इतनी कम थी कि उसे शर्म लगे कि घरवालों को पैसा कितना बतायेंगे? यह भी भय था कि अगर ट्रायल के एक माह बाद काम से निकाल दिया तो? घर वालों को क्या मुँह दिखायेंगे? अतः संध्या ने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो हो, काम तो अच्छा करके दिखाना ही है।

काम को करीब से जानना शुरू किया तो यह भ्रम टूटते भी अधिक देर नहीं लगी कि यह केवल मासिक आय पाने वाली दस से पाँच की नौकरी नहीं है, यह तो खुद को एक संघर्ष में डुबो देने का संकल्प है। पल्लवी ने पहले क्षेत्रीय-कार्यकर्ता के काम को आँगनबाड़ी या अनौपचारिक काम से मिलता-जुलता समझा था, लेकिन काम से जुड़ने के बाद मालूम हुआ कि यह तो बहुत ही मेहनत वाला काम है। इसी तरह मधुलिका का रुख भी तुरन्त बदल गया। लिखती है: “जब हम इस कार्यक्रम से जुड़े थे, तब यही सोचते थे कि जैसे और सबकी नौकरी है, वैसे ही यह भी होगी।.....एक दिन जायेंगे, तो चार दिन घर में रहेंगे। यह तो ज़रा भी अहसास नहीं था कि यह नौकरी नहीं, दरअसल ‘समाज सेवा’ है।”

000

जाति-भेद की जकड़नें: कितनी ज़ालिम, कितनी ज़हरीली!

मैं सोचती थी कि महिलाओं का यह कार्यक्रम केवल हरिजनों (दलितों) के लिए है, लेकिन इसमें तो सब जाति के लोग हैं और ज़्यादातर पण्डित हैं। केवल कुछ ही लोग हरिजन हैं। जहाँ भी देखो, ऑफिस से लगाकर फील्ड तक हरिजन कोई विरला ही है। ...मीटिंगों में तो जाति-भेद पर खूब चर्चा होती..., उसके बाद जब छुट्टी हो जाती, तब कुछ लोग गुस्सा होते—“हम ऊँची जाति के हैं, तो इसमें हमारा क्या दोष? जो नीचे हैं, इनको कहीं इनसे भी नीची जाति में खाना खिलाओ। तब असलियत मालूम होगी।” यह सब सुनकर हमको बहुत कष्ट होता था। अपने मन में सोचती थी कि हमको यहाँ नौकरी करनी है, तो यह सब सुनना पड़ेगा। यहाँ नौकरी नहीं की होती, तो आज यह सब नहीं सुनना पड़ता।

— मधुलिका की डायरी से

1996 में चयन की प्रक्रिया में शामिल होने के बाद जब संध्या को क्षेत्रीय-कार्यकर्ता के पद के लिये नहीं चुना गया, तब उसके आत्मसम्मान को बहुत ठेस लगी। एक तो संध्या शादी से पहले अनौपचारिक साक्षरता-केन्द्र चला चुकी थी, इसलिये उसे यकीन था कि औरों की अपेक्षा उसे काम से जुड़ा अनुभव अधिक है। दूसरे, ब्राह्मण जाति की होने की वजह से बचपन से ही संध्या अपने आपको सबसे ऊँचा समझती रही। क्षेत्रीय-कार्यकर्ता के रूप में नियुक्त न हो पाना उसे इतना अपमानजनक लगा कि भीतर तक तिलमिला उठी। लिखती है: “मैं तो पहले ही सोच रही थी कि पता नहीं नौकरी लगेगी या नहीं, क्योंकि हमने यह बात सुनी थी कि यह संस्था सिर्फ अनुसूचित जातियों के लिए है। वही लोग इसमें काम करेंगी। अन्त में जवाब भी वही मिला। सभी लोगों का कहना था कि ऊँची जाति से

कार्यकर्ता नहीं ली जाएँगी। यह सुनकर मुझे बहुत दुख हुआ, बहुत गुस्सा भी आया कि मधुलिका केवल आठवीं पास है, पर उसको नौकरी मिल गयी। और मुझे, ऊँची जाति की वजह से केन्द्र चलाने का काम भी देने को तैयार नहीं हो रही हैं। मुझे लगे, इस महिला कार्यक्रम से जुड़े और लोग भी चमार हैं इसलिए तो चमारों का पक्ष ले रही हैं...।”

अपनी आज तक की सामूहिक-यात्रा का यदि एक कड़वी ईमानदारी और सच्चाई के साथ विश्लेषण करें, तो यह कहना ग़लत नहीं होगा कि पहले-पहल बहे संध्या के आँसू प्रतीक थे, उन नुकीले पत्थरों और गहरे घावों के, जो जाति के दलदल में जीकर हम सबने अलग-अलग रूपों में महसूस किये थे...और जिनसे हम आज तक मुक्त नहीं हो सके हैं।

संस्कारों और मान्यताओं की यों तो बहुत-सी बेड़ियाँ हमारे पैरों को जकड़े थीं, लेकिन जितनी वज़नी जाति और मज़हब की जंजीरें थीं, उतनी कोई दूसरी नहीं। धर्म और पवित्रता के दोने में जाति-भेद का जो प्रसाद बचपन से हम इतना रस लेकर खाते चले आ रहे थे, उस दोने को ऐसे ही किसी के कहने से उठाकर कैसे फेंक देते? ज़ाहिर-सी बात यह भी है कि सवर्णों के हिस्से में अक्सर चूँकि सबसे लज़ीज़ प्रसाद आता है, इसलिये दोने को उठाकर फेंकना भी दलित वर्गों की बनिस्बत सवर्ण जातियों के लिये अधिक पीड़ादायक होता है। जिन्हें हमने सदा से नीची निगाहों से देखा हो, उनके साथ अपनी झोली में पड़े पकवान को ज़बरदस्ती बाँटना पड़े, तो तकलीफ़ तो आख़िर होगी ही! पर ऊँच-नीच की चाशनी में डूबा पकवान अगर कोई तरस खा कर सामने फेंक दे, तो उसे स्वीकार करने में भी तो स्वाभिमान कुचला जाता है न!

बैठकों में अक्सर यह चर्चा चल पड़ती कि यह संगठन केवल अनुसूचित जातियों की महिलाओं के बीच ही काम क्यों करता है? क्या उनके सिवाय और किसी का शोषण नहीं हुआ है? संध्या बार-बार यह बात उठाती कि दूसरी जातियों में भी तो औरतों के ख़िलाफ़ अन्याय हो रहे हैं। फिर उनके साथ यह संगठन काम क्यों नहीं करता? पर दूसरी ओर इसी संगठन का यह दावा कि वह दलित व शोषित वर्ग में काम करता है, कुछ लोगों को खोखला और कागज़ी महसूस होता। मधुलिका को लगता कि यहाँ तो कार्यालय से लेकर क्षेत्र तक ज़्यादातर सवर्ण जातियों से आये हिन्दू ही जुड़े हैं। कितना अच्छा होता अगर अनुसूचित जाति में भी पढ़ी-लिखी महिलाएँ मिल पातीं! हमारी दलित जातियों में भी लोगों ने अगर अपनी बेटियों को पढ़ाया होता, तो आज इस संस्था में इतनी सारी सवर्ण कार्यकर्ताओं की जगह अनुसूचित जाति की महिलाएँ काम कर रही होतीं। इसी तरह चाँदनी जब संस्था में ऊँची जाति के हिन्दुओं का वर्चस्व महसूस करती, तब सोचती कि हमारी क़ौम में तो इतना परदा है कि बच्चियों को पढ़ाते भी नहीं हैं। पढ़ने भेजे होते, तो हमारी औरतें-लड़कियाँ भी यहाँ नौकरियाँ पातीं।

अब महसूस होता है, हम सभी ने एन.एस.वाय. में कितनी आसानी से पिछड़ी जातियों और वर्गों की ग़ैरमौजूदगी का दोष उन्हीं के समुदायों पर मढ़ दिया था कि इन लोगों ने अपने पिछड़ेपन की वजह से अपनी बेटियों को घर से बाहर निकाला नहीं, पढ़ाया-लिखाया नहीं। इसीलिये उन्हें यहाँ नौकरियाँ नहीं मिल सकीं...। यह सब कुछ अगर इतना सरल होता, तो 1996 से अब तक हमने अपने कार्यक्षेत्रों की सभी बहू-बेटियों को उनके घरों से निकालकर उनके हाथों में नौकरियाँ थमा दी होतीं। किन सामाजिक ढाँचों के कारण अनुसूचित-जाति की लड़कियाँ माँ-बाप के चाहने पर भी पढ़ नहीं

पार्टी? क्यों आरक्षण के इतने ढोल पीटे जाने के बाद भी इन्हें नौकरियाँ नहीं मिलती? क्यों दलित वर्गों के नाम पर चलने वाली और उन्हीं के मध्य कार्यरत संस्थाओं में भी कार्यालय से लेकर गाँवों तक ऊँची जाति के कार्यकर्ता भरे हुए हैं? इन सारे प्रश्नों से जुड़ी गुत्थियाँ कितनी जटिल और कसी हुई हैं, इसका अहसास हमें धीरे-धीरे ही हुआ।

संध्या के गाँव में एक ब्राह्मण मास्टर थे। अपनी कक्षाओं में वह दलित-वर्ग के छात्रों और छात्राओं को सुना-सुना कर हमेशा कहते थे: "क्या करेगी सरकार तुम्हें आरक्षण देकर? दे। जितना चाहे, उतना दे। तुम आगे तो तभी निकलोगे, जब हम तुम्हें पढ़ायेंगे।"

दिल को छलनी कर देने वाली स्कूल की ऐसी ही यादें राधा के दिल को आज भी कँपा जाती हैं। स्कूल में उसके एक मास्टर उसे बहुत मारते थे। बात-बात में कहते: "इन साले चमारों को तो कुछ भी समझ में नहीं आता है।"

राधा को लगे कि वह नीची जाति की है, इसलिये मास्टर उसे नहीं पढ़ाना चाहते और जो कुर्मी जाति के बच्चे हैं, उन्हें अधिक चीजें अच्छे से समझाते-बताते हैं। कोई भी मौका होता-जैसे कविता सुनाना या जमात का मॉनीटर बनाना, तो सबसे पहले मास्टर कुर्मी बच्चों को खड़ा करते। राधा को ये सब बहुत ही खराब लगता था। बहुत गुस्सा भी आता था, लेकिन मास्टरजी से कुछ कहने की हिम्मत कभी न जुटा पायी।

पग-पग पर जाति- और वर्ग-भेद की बू में लिपटे ऐसे अपमान और ऐसी उपेक्षाएँ हम में से कईयों ने बचपन से पायी हैं। संध्या को सिर्फ ब्राह्मण जाति में जन्म लेने की वजह से जहाँ अपने समाज में सम्मान मिला, वहीं राधा ने पासी होने के कारण बराबर नये घाव और बेहद तकलीफ़देह ज़िल्लतें पायीं। अक्सर देखते हैं कि दलित जातियों की दबंग कार्यकर्ताओं को पाने या बनाने की उम्मीद में डूबे महिला-संगठन शहरों से अनुदान लेकर गाँवों में चले आते हैं। पर यह बहुत कम लोग महसूस कर पाते हैं कि बचपन से ही जिसे जाति-भेद की चोटें मिली हों, उसके लिये एक दबंग-कार्यकर्ता बनकर उन्हीं गाँवों में बदलाव लाने का काम कर पाना कितना चुनौतीपूर्ण है! एक ही सामाजिक-परिवेश में तथा एक ही जैसा काम करते हुए भी जाति, वर्ग, और धर्म की पेंचीदगियों ने हमारे काम से जुड़े अनुभवों और संघर्षों को बहुत ही जुदा रूप-रंग दे डाले हैं। संध्या को समाज में जो जगह सिर्फ एक प्रतिष्ठित-परिवार की बहू होने की वजह से सहज ही मिल जाती है, वहीं राधा को हमेशा इस बात के लिये तैयार रहना पड़ता है कि गाँव में कभी भी कोई यह सुना देगा: "अरे, यह तो उसी पासी की बहू है, जो बहुत जुआ खेलता है।"

इसी प्रकार गरिमा शराब के मुद्दे को उठाने में मजबूती के साथ जुड़ जाती है, क्योंकि लोग जानते हैं कि यह वही शराब है, जिसकी वजह से उसका बचपन उससे छिन गया था। इसके विपरीत मधुलिका को जुए के मुद्दे पर पीछे हटना पड़ता है, क्योंकि वह भली-भाँति जानती है कि उसे यह ताना देने का अवसर कोई भी नहीं खोयेगा: "तुम भला दूसरों को जुआ खेलने से क्या रोकोगी? तुम्हारा पति तो खुद इतना जुआ खेलता है।"

खान-पान के कड़वे संस्कार: गहरे पैठा जहर

जाति और धर्म की दीवारों में हम किस क़दर क़ैद हैं, इसका अहसास सबसे ज़्यादा तब-तब हुआ, जब-जब हमने खान-पान को लेकर अपने अन्दर के द्वन्द्वों से जूझने की कोशिश की। काम से जब नये-नये जुड़े थे, उस समय हम सबको यही लगता था कि न जाने हमारे काम में हर जाति और धर्म के लोगों के साथ खाने-पीने के चोंचले क्यों होते हैं? दूसरी जातियों या कौमों में काम करने का यह मतलब कहाँ से हो गया कि उनके साथ हम उनके या अपने घरों में खायें-पियें? जहाँ सवर्ण जातियों से आयी संध्या, गरिमा, पल्लवी, और शिखा को हमेशा यह बात खटकती रहती कि यहाँ तो सब जातियों के लोगों का खाना-पीना चलता है, वहीं राधा और मधुलिका के मन में लगातार यह बात सालती रहती कि कहीं दलित जातियों से होने के कारण कोई उनका अपमान न कर दे। चाँदनी जिस परिवेश से आयी थी, वहाँ भी रैदासों और पासियों के खिलाफ़ थोड़ी-बहुत छुआछूत मानते थे, पर उतनी दिक्कत नहीं थी; किन्तु चाँदनी सहित सभी कार्यकर्ताओं को उस दम साँप सूँघ गया, जब इन्होंने भंगी जाति के सफ़ाई-कर्मियों को रसोई घर में काम करते देखा! सातों में से एक को भी किसी भंगी का रसोई में काम करना बर्दाश्त नहीं हो रहा था। पर चूँकि नौकरी करके पैसा कमाने की चाह थी, इसलिये मजबूरी में सब चुप्पी साधे रहीं और किसी ने भी कोई नकारात्मक-प्रतिक्रिया खुल कर व्यक्त नहीं की।

यह तो बस शुरुआत थी।

हम जिन उत्पीड़नों को अपने काम के ज़रिये ख़त्म करने चले थे, उनका खान-पान के राजपाट से कितना गहरा ताल्लुक है, यह हमें जल्द ही समझ में आने लगा। शुरुआती दौर के ही एक दिन की बात है—मधुलिका रतौंसिया गाँव में बैठक के लिए गयी थी। गाँव में मौर्य-जाति की एक महिला उसे ज़बरदस्ती अपने घर ले गयी। वह समझी थी कि मधुलिका ब्राह्मण-बाहुल्य रामपुर गाँव की रहने वाली है। अतः उसने मधुलिका को बड़े प्रेम से चाय पिलायी। बचपन से यही संस्कार डाले गये थे कि किसी सवर्ण के घर का बर्तन इस्तेमाल करो, तो उसे धो कर ही उठो। तो चाय पीने के बाद मधुलिका अपना कप धोने लगी! अब उस महिला को यह कहते देर नहीं लगी: “अच्छा, तो तुम चमारों में से हो। अब ऐसी ग़लती कभी मत करना। अपनी जाति ज़रूर बता दिया करो।”

यह सुनकर पहले से ही चाय पीने में संकोच करती मधुलिका का खान-पान को लेकर संकोच और अधिक बढ़ गया। मधुलिका अच्छी तरह जानती थी कि जातिगत ऊँच-नीच का ढाँचा किसके द्वारा तथा किसके फायदे के लिये बनाया गया है, फिर भी उस महिला की टिप्पणी और आरोप सुनकर मधुलिका को ऐसा लगा कि जैसे उससे बहुत भयंकर अपराध हो गया है।

इस हादसे से ज़रा अलग हट कर सवर्ण-जाति की कार्यकर्ताओं के अनुभव देखें, तो तस्वीर का दूसरा पहलू उभरता है। संध्या ने जब अनुसूचित जातियों के बीच खान-पान का भेदभाव कम किया, तो कमालपुर गाँव की शकुन्तला ने उससे गद्गद स्वर में कहा, “जब आप लोग हमारे घरों में कुछ खा-पी लेती हैं, तो हमें बहुत अच्छा लगता है।”

सवाल यह उठता है कि शकुन्तला ने ये शब्द सिर्फ इसलिये कहे, क्योंकि संध्या और उसके बीच परस्पर आदर और प्यार का रिश्ता है या फिर इस उद्गार में संध्या के ब्राह्मण होने की वजह से शकुन्तला का स्वयं को सौभाग्यशाली मानने का भी भाव निहित है? शायद दोनों ही बातें सच हैं, लेकिन नतीजा वही होता है कि जहाँ खान-पान के धिनौने नियमों को तोड़कर संध्या एक गाँव की महिला से प्रशंसा, प्रेम, इज्जत, व ऊर्जा पाती है, वहीं मधुलिका उन नियमों को तोड़ने की कीमत तिरस्कृत होकर चुकाती है। अपनी जाति के लिये उस मौर्य महिला की आँखों में मधुलिका ने जो घृणा देखी, उससे इतना कष्ट हुआ कि उसने कसम खा ली कि वह जिस घर में जायेगी, वहाँ का पानी नहीं पियेगी ताकि कोई उससे उसकी जाति न पूछे। नफरत के जहर का यह घूँट पी चुकने के बाद मधुलिका ने अपने मन में कोई भी भ्रम पालना छोड़ दिया। अपने ही कार्यालय में काम करते सवर्ण लोगों को देखकर वह यह सोचने को मजबूर हो जाती—पता नहीं, सचमुच ये अपने मन से भेदभाव को निकाल सकी हैं या जितनी देर नौकरी करती हैं, सिर्फ उतनी देर के लिये उसे एक किनारे रख देती हैं?

राधा की डायरी में भी यही भाव व्यक्त हुए हैं। वह लिखती है: "खानपान में तो हमने इतना भेदभाव नहीं महसूस किया, लेकिन कभी-कभी व्यक्तिगत चर्चाओं से मेरा मन टूट जाता था। मैं यही सोचने लगती कि यहाँ कार्यालय में तो सबकी मजबूरी है, जिससे भेदभाव पता नहीं चलता। पर यहाँ की चौखट लॉघ के देखो तो कितना बदल पाया है कोई अपने आप को? कुछ बदला भी है या सब लगभग जस का तस है?"

ईमानदारी से देखें तो मधुलिका और राधा के मन में बैठे ये सवाल यथार्थ से इतने परे भी नहीं है। गरिमा अपना ही उदाहरण लेकर कुबूल करती है कि उसे अपने से नीची जातियों के घरों में चाय व पानी पीने में तो कोई दिक्कत नहीं होती, पर पता नहीं क्यों अन्दर से कुछ भी खाने का मन ही नहीं करता। जैसे—एक दिन गुड़िया के त्योहार पर मधुलिका सबके लिये चने की घुघरी² बनाकर लायी, पर गरिमा उसे खाने की हिम्मत नहीं कर सकी। हालाँकि अपनी कमजोरियों को समूह के सामने स्वीकार करना कठिन काम है, इस नाते ईमानदारी से इस बात को सबके साथ बाँटने के लिये हम गरिमा की इज्जत करते हैं। फिर भी जब गरिमा यह बात बता रही थी, तब राधा और मधुलिका उसका चेहरा एकटक देख रही थीं। मानो कहना चाह रही हों: "इतने साल साथ काम करने के बाद भी क्यों नहीं बदल सका तुम्हारा मन? कैसे तुम नहीं खा सकीं मधुलिका के हाथों इतने प्यार से बनाई घुघरी?"

पर मुँह से दोनों में से किसी ने कुछ नहीं कहा। कुछ शायद इसलिये कि न कहने की पुरानी आदत पड़ी हुई थी, और बाकी इसलिये कि जातिगत-भेदभाव को लेकर एक-दूसरे पर प्रश्न उठाना हमारे समूह के लिये आज तक बेहद कठिन है।

कार्यालय से निकलकर जब यही संघर्ष हमारे घरों और गाँवों तक पहुँचने लगे, तब इनसे जुड़ी तकलीफें तथा चुनौतियाँ और भी उलझनें पैदा करने लगीं। राधा लिखती है: "मैं तो जात-पाँत के भेदभाव को भूल गयी थी। पर तभी एक ऐसी घटना घटी, जिसने मुझे अन्दर तक हिला दिया।एक दिन जब एक गाँव की महिला रूपा गरिमा के घर गयी, तो गरिमा के पति ने उसे उल्टे पैर वापस कर

² तेल के छौंक में उबाले हुए भीगे चने।

दिया; इसलिए कि रूपा रैदास जाति की है। गरिमा कार्यकर्ता होकर भी पति की सुनती रही। एक बार भी जवाब नहीं दिया। क्यों?”

ऐसा नहीं है कि सवर्ण जातियों से आयी कार्यकर्ताओं ने अपने घर-परिवारों में इस स्थिति को बदलने का कोई प्रयत्न न किया हो। काफ़ी मुठभेड़ें हुईं, झगड़े हुए। पल्लवी जब एक दिन अपने साथ की एक रैदास-कार्यकर्ता को अपने घर ले गयी, तो उसके ससुर ने कहा: “बिटिया, तुम कौन जात हो?”

वह कुछ बोल पाती, इससे पहले पल्लवी तपाक से बोल पड़ी—“रैदास हैं।” पल्लवी के तेवर देखकर ससुरजी उस समय तो शान्त हो गये, पर बाद में बहुत हंगामा किया।

अपने घरों में विरोध करने के साथ-साथ पल्लवी, संध्या और गरिमा खुद भी इस ऊँच-नीच के चक्रव्यूह में बहुत उलझती हैं। संध्या पूछती है कि क्या हम सवर्णों के हर जाति में सिर्फ़ खा-पी लेने से क्या बदलाव हो जायेगा? नीची जाति वाले क्यों नहीं खाते उनके घरों में, जिन्हें वे अपने से नीचा मानते हैं? यह कैसा ढाँचा है? कहाँ से शुरू हुआ? क्यों तमाम कानून बनने के बावजूद यह टिका हुआ है?

इन्ही ढाँचों से जुड़े और भी अहम पहलू हैं। संध्या के लिये उन्हें देख पाना कठिन हो जाता है। जैसे—जाति-भेद की बेड़ियाँ हमारे व्यक्तित्व पर कितना बड़ा असर डालती हैं! होश सँभालते ही राधा ने छुआछूत की जो पीड़ा सही तथा संध्या ने ऊँची जाति की सदस्यता के जिस गौरव और जिन फ़ायदों को सहर्ष अपनाया, उस हकीकत का क्या इन दोनों के व्यक्तित्व और आत्मविश्वास पर कोई असर नहीं पड़ा होगा? ऐसा तो असम्भव है।

000

मज़हबी छुआछूत—एक और खाई!

इस्लाम धर्म को लेकर भी हमारे हिन्दू-बाहुल्य महिला-कार्यक्रम में बहुत ही ऊहापोह की स्थिति रहती है। लेखन की इस पूरी प्रक्रिया के दौरान समूह से जुड़ी एकमात्र मुसलमान सदस्या चाँदनी ने मुसलमान-समुदाय को बेहतर रूप से जानने-समझने में निश्चित ही हमारी बहुत मदद की। सबसे बड़ी बात यह हुई कि जिन मान्यताओं ने बचपन से ही हमारे दिलों में घर कर के हमें इस मज़हब को मानने वाले लोगों से अलग कर दिया था, उनके बारे में हम सब खुलकर बातचीत कर पाये। जब चर्चाएँ चलीं, तब कभी-कभी तो आश्चर्य और शर्म से सिर झुक गया। विश्वास नहीं होता था कि हमारे दिमागों में हमारे ही बड़े-बूढ़ों और तथाकथित सम्य-समाज द्वारा कैसी-कैसी बातें भरी गयी थीं! गरिमा कहती है: “मुझे चमारों से ज़्यादा मुसलमानों के बर्तनों और पहनावे से घृणा थी।”

स्वयं जिस राधा ने जाति-भेद की पीड़ा का भयानक रूप झेला था, वह भी मुसलमानों के प्रति भरी जाने वाली नफ़रत से अछूती नहीं रही: “मैं पहले इतना जानती थी कि मुसलमान-धर्म को मानने वाले लोग बहुत कठोर होते हैं। इनके अन्दर एकता की भावना होती है और...हिन्दुओं के प्रति शील नहीं होता।...जब मैं किसी औरत को सिर से पैर तक काले बुर्के में देखती, तो कभी-कभी अन्दर से डर

जाती कि पता नहीं इन लोगों का व्यवहार कैसा होगा! मेरे मन में भी यही भरा था कि ये लोग बहुत गन्दे होते हैं। इनके घरों में पानी तक नहीं पीना चाहिए।”

मधुलिका लिखती है: “मेरे यहाँ मुसलमान लोगों का आना-जाना था, उनके साथ उठना-बैठना था, पर घर में उनके साथ खाने-पीने का कोई व्यवहार नहीं था। हम लोगों को भी मना किया जाता था कि इनके यहाँ मत जाना। हम लोगों के यहाँ इनके घरों में खाय़ा-पिया नहीं जाता है। ...अम्मा कहतीं—वे बहुत ही गन्दे होते हैं। जब पेशाब जाते हैं तब तो पानी लेते हैं। पर जब पाख़ाने जाते हैं, तो टोटी वाला लोटा लेते हैं। हाथ तक नहीं धोते।”

इन्हीं विचारों के साथ पली मधुलिका जब इस महिला कार्यक्रम में आयी, तो उसकी एक दोस्त बनी—नूर। शुरू के पाँच बरसों तक महिला-संगठन में नूर ही एकमात्र मुसलमान समुदाय की क्षेत्रीय-कार्यकर्ता थी। मधुलिका का नूर के घर बहुत आना-जाना था। काम को लेकर नूर भी मधुलिका के घर जाती रहती थी। नूर को जब मधुलिका के घर खाने को कहा जाता, वह खा लेती, लेकिन मधुलिका के लिए नूर के घर खा पाना कठिन होता था। नूर अपने मज़हब को लेकर हिन्दुओं के रवैयों से परिचित थी, इसलिये खाने पर ज्यादा ज़ोर नहीं देती थी। एकाध बार कहा भी, तो मधुलिका का मन खाने को नहीं हुआ।

इसी तरह बचपन में संध्या के घर आबिद नाम के एक व्यक्ति का आना-जाना था—जिन्हें वह मामा कहती थी। वे घर पर खाते-पीते भी थे, लेकिन उनके बर्तन अलग रखे रहते थे। एक बार ईद के दिन संध्या उनके घर गयी। त्योहार का दिन था। घर आयी बच्ची को मामा बिना कुछ खिलाये कैसे जाने देते? मामी बड़े मन से खाने को मिठाई लेकर आयीं। बोलीं, “आज के दिन तो कुछ खाये बिना नहीं जाने देंगे।”

संध्या रोने लगी। उसे बस यही डर लगे कि ये मुसलमान लोग बड़े कट्टर-स्वभाव के होते हैं, कहीं मुझे चाकू से मार न डालें। यह भी लगे कि इनके त्योहार पर इन्हीं के घर खा लिया, तो ये हमको मुसलमान बनाकर छोड़ेंगे—“मैं बिल्कुल भी मुसलमान बनना नहीं चाहती थी नहीं तो आबिद मामा की तरह हमको भी अलग बर्तन में खाना दिया जायेगा।” ईद के दिन संध्या आबिद मामा और मामी के प्यार से दिये खाने को ठुकरा कर चली आयी, क्योंकि बचपन का वह हठी मन किसी भी हालत में मुसलमान नहीं बनना चाहता था। पर इस घटना ने संध्या को बेचैन भी किया। मन में यह सवाल उठे कि क्यों आबिद मामा के घर में पका खाने की तो मनाही है, लेकिन जब बाज़ार से वह कुछ ख़रीद कर लाते हैं, तो वह सामान घर में रख लिया जाता है। यह प्रश्न एक बार संध्या ने नानी से भी पूछा। पर कोई जवाब नहीं मिला।

छहों हिन्दू लेखिकाओं के मन में जब मुसलमानों के प्रति इतनी ग़लतफ़हमियाँ बचपन से भर दी गयी थीं, तो उसी समाज में साँस लेती चाँदनी का दिलो-दिमाग़ नफ़रत की इस राजनीति से भला कैसे अछूता रहता? घर में, मोहल्ले में, स्कूल में, हर जगह बस यही तो जाना था कि सारे के सारे हिन्दू, मुसलमानों को अछूत मानते हैं। बदले में चाँदनी ने भी यही सीखा था कि हमारी मुसलमान-क़ौम हिन्दू-क़ौम से ऊँची और बेहतर है। यही नहीं, हिन्दू-मुसलमान के भेद के साथ ही जाति का भेद भी

उसके अपने मन में गहरे तक उतर गया था। मेहतरों व सुअर पालने वाली जातियों से चौंदनी हमेशा बहुत दूर रहती। उसे लगता था कि कहीं इनसे छू गयी तो वह खुद भी अछूत हो जाएगी।

एक बार लखनऊ की एक संस्था से चार मुसलमान महिलाएँ सहजनपुर गाँव में तीन माह का चिकन प्रशिक्षण देने के लिए आयीं। संध्या, जो इस प्रशिक्षण में सक्रिय भूमिका निभा रही थी, बड़े ही असमंजस की स्थिति में पड़ गयी। हर समय उसे यह डर लगता कि अगर ये चारों मेहमान बनकर मेरे घर आ गयीं, तो इन्हें चाय-पानी तो कराना ही पड़ेगा। मगर घर के लोगों ने अगर कोई आपत्ति कर दी या इनमें से किसी का अपमान कर दिया, तब क्या होगा? आखिर वह दिन भी आ ही गया, जब ये चारों महिलाएँ संध्या के घर मिलने आ पहुँची। संध्या ने बहुत हिम्मत करके उन्हें अपने बर्तनों में चाय-पानी करवाया। शहर से आयी इन प्रशिक्षिकाओं को देखकर घर वालों की भी कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई और सब-कुछ बिना किसी कष्टप्रद-प्रकरण के निबट गया।

इस पूरे प्रसंग ने संध्या को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि इसी घर में क्या वह एक मजदूर-वर्ग की मुसलमान औरत को भी इतने ही सम्मान के साथ अपने बर्तनों में चाय पिला सकती थी? कतई नहीं। यहीं हमने पहली बार बड़ी शिद्दत से महसूस किया कि जाति और धर्म से जुड़ा छुआछूत किस हद तक वर्ग-भेद के साथ गुँथा हुआ है। नीची-जाति का व्यक्ति यदि ऊँचे ओहदे या अधिक पैसे वाला है, तो उसकी जाति व धर्म का महत्व घट जाता है और हमारा समाज पैसे व ओहदे की ताकत से संचालित हो जाता है। गरिमा हँसते हुए टिप्पणी करती है: "अभी मायावती खाने पर बुलाये तो सारे ठाकुर और पण्डित दौड़ते चले जायेंगे...।"

पर इसकी भी सीमा बनती है। जैसे अगर कोई ऊँची जाति का ज़िलाधीश बहुत साधारण और सीधे स्वभाव का हो, तो लोग कहेंगे कि वह बहुत अच्छे हैं। वहीं अगर रैदास ज़िलाधीश सीधा और साधारण दिखे, तो लोग कहेंगे कि वह चमार है, इसलिए बेवकूफ है—गधा है।

000

सफ़र का अगला दौर

जब मैंने खुद को ऊँची जाति वालों की जगह रखकर अपने से भी नीची-जाति (भंगी) के बारे में सोचा, तब कहीं जाकर समझ पायी कि उनको कब, कहाँ और कैसे मेरी जाति द्वारा चोट पहुँचती होगी। हम नीची-जाति के लोग भी इस छुआछूत के ढाँचे में कैसा फँसे हुए हैं! क्या हममें से कभी किसी को भी अछूत शब्द से छुटकारा मिल पायेगा?...मुसलमान धर्म में यह एक बड़ी ख़ासियत है कि वहाँ छुआछूत का कोई भेदभाव नहीं होता है, जबकि वहाँ भी कई जातियाँ होती हैं...!

—राधा की डायरी से

'जात-पाँत का भेद नहीं होगा'—जिन महिला संगठनों से हम जुड़े, वहाँ यह सिर्फ़ एक मान्यता या नियम नहीं है, बल्कि इसे हमने अपने कार्यक्रमों का एक सामंजस्य-विरुद्ध ("नॉन-नेगोशियेबिल")

बिन्दु माना है। यानी, यह हमारे संगठनों की उन शर्तों में से है, जिन पर हम कोई समझौता नहीं कर सकते। कार्यालय में, बैठकों—प्रशिक्षणों में, यहाँ तक कि खाने—पीने में भी जाति व धर्म का भेद बिल्कुल नहीं दिखता। पर सवाल यह उठता है कि क्या महज इस नियम को बना देने के बूते पर हम यह दावा कर सकते हैं कि हमारे संगठनों में दलित—जाति की कार्यकर्ता को जातिगत भेद—भाव का सामना नहीं करना पड़ता? क्या सिर्फ शर्तों में शामिल भर कर लिए जाने से जाति—भेद समाप्त हो जायेगा? या फिर, हर संगठन को इस पर लगकर, सोच—समझ कर काम करने की ज़रूरत है, वह भी मात्र चर्चाओं के दायरे से आगे बढ़कर? आये दिन जाति—भेद पर चर्चाएँ तो खूब हो जाती हैं—कभी आरक्षण को लेकर, तो कभी अन्य संसाधनों व सुविधाओं को लेकर। पर कभी एक पल रुक कर हम शायद ही पूछते हैं कि कहाँ तक पहुँच पाये हैं हम? चर्चाओं से ऊँची मधुलिका और राधा अक्सर कहती हैं: “जो नीचे हैं, वे तो हैं ही। अब यह चर्चाएँ बन्द होनी चाहिए।”

छुआछूत को सबसे करीब से देखने और सहने वाली मधुलिका और राधा ही क्यों ऊँच गयी इन चर्चाओं से? इसलिये कि उन्हें बार—बार महसूस हुआ कि कार्यक्रम से जुड़कर लोग ऐसा दिखाते तो हैं कि वे जाति—भेद को नहीं मानते, पर सच्चाई कुछ और है। अगर मन बदले होते, तो काम से जुड़ने के सात वर्षों बाद मधुलिका के घर में हाथ में कचौड़ी लिये बैठी गरिमा के चेहरे पर यह भाव न दिखाई देता—“हाय, इसे कैसे खाऊँ?”

इसी तरह चाँदनी भी खाने के बाद यह कहने को मजबूर न होती कि आज पहली बार मैंने बहुत हिम्मत करके मधुलिका के घर में कुछ खाया है। न ही जाति—भेद की बात उठने पर बार—बार सवर्ण—जाति की कार्यकर्ताओं के चेहरे तने हुए मिलते...!

जातिगत ऊँच—नीच को लेकर जब सवाल उठते हैं, तो अक्सर सवर्ण—जाति की कार्यकर्ता अपने बचाव या सफाई में कुछ कहकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं। यह भी बार—बार सुनने को मिल ही जाता है कि छुआछूत मानने वाले सवर्ण—हिन्दू अकेले तो नहीं हैं। रैदास और मुसलमान भी तो भंगी जाति के घरों में नहीं खाते पीते...। सवाल यह है कि दूसरों की छुआछूत के उदाहरणों पर टिके तथा अपने बचाव में दिये गये ये तर्क क्या हमें अपने संघर्ष में बहुत आगे बढ़ने देंगे? ऐसा भी तो हो सकता है कि राधा जिस तरह पासी और भंगी जातियों के परस्पर सम्बन्धों पर विचार कर के स्वयं से जूझती है, उसी तरह हम सब अपने बचाव के लिये नये तर्क ढूँढने के बजाय इन चर्चाओं को अपने आत्म—विश्लेषण का माध्यम बनायें? अपने आप में यह कितनी बड़ी बात है कि बचपन से सवर्ण हिन्दुओं के बीच रहकर अछूत होने की पीड़ा झेल रही राधा अपने दर्द के ज़रिये इस्लाम—धर्म की यह खूबी समझ गयी कि वहाँ कोई अछूत नहीं होता। हममें से कोई दूसरा इन दो अनुभवों को आपस में इतने सहज रूप से जोड़ ही नहीं सका।

कहीं न कहीं इस पूरी प्रक्रिया के दौरान हम सभी इस तरह के आत्म—विश्लेषणों और आत्म—मंथनों से गुज़रे। एक—दूसरे के साथ इतना समय बिताने और साथ काम करने के बाद भी हमारे बीच सालों—साल इतनी दूरियाँ क्यों बनी रहीं? जब भी इस असलियत पर गौर किया, तभी गहराई से समझा कि बचपन से हमारे भीतर धर्म और पवित्रता के नाम पर जो संस्कार डाले गये; जो डर बिठाये गये, उनकी गिरफ्त से बाहर निकल पाना कितना मुश्किल है। किन्तु जब—जब इन कठिन सवालों से

जूझने का सामूहिक प्रयास किया, तब-तब कुछ दिमागी गुत्थियाँ सुलझती हुई भी महसूस हुई। बाबरी मस्जिद का गिराया जाना और गुजरात का नरसंहार एक बार फिर हमारी बातचीत का विषय बना और हम लोगों ने देखा कि वही मज़हबी नफ़रत व डर, जो कभी हमारे दिमाग में टूँसे गये थे, कैसे उन्हें आज हमारे बच्चों के दिलो-दिमाग में भी टूँसने की कोशिशें की जा रही हैं।

संगतिन जैसे कई संगठन बाहरी दुनिया में जिन अभावों और अन्यायों से लड़ने की कोशिश करते हैं, उनका हमारे निजी-जीवन के संघर्षों से कितना गहरा सम्बन्ध है, यह भी हमने नये सिरे से देखना शुरू किया। हमने इस हकीकत को स्वीकार करना सीखा कि दलित व सवर्ण परिवारों से आयी कार्यकर्ता भले ही प्रशिक्षण की समान प्रक्रियाओं से गुज़र कर निकलें, लेकिन दोनों कभी एक जैसी कार्यकर्ताओं के रूप में उभर कर नहीं आ सकतीं। जैसे, निजी जिंदगी में झोले अवसरों और संसाधनों के अभावों के कारण राधा को हर चीज़ सीखने के लिये संध्या की अपेक्षा अधिक मेहनत और संघर्ष करना पड़ता है। पर इन्हीं अभावों और संघर्षों ने राधा को वह दृष्टि और समझ दी है, जिनके सहारे वह कुछ चीज़ों की तह में इतनी गहराई से जा सकती है, जितना समूह का कोई दूसरा सदस्य नहीं।

भेद-भाव के इन मुद्दों से जूझ कर हमने अपने काम, अनुभवों, ज़रूरतों और सीमाओं के बारे में बहुत कुछ सीखा है। आज हम पूरे आत्मविश्वास के साथ कह सकते हैं कि लिंग-भेद पर काम कर रहे महिला संगठन जब तक जाति- और धर्म-भेद को नहीं उठाएंगे, जब तक इन ढाँचों को परिवारों, संस्कारों, और वर्ग की राजनीति से नहीं जोड़ेंगे—तब तक वह दलित व शोषित महिलाओं के साथ ईमानदारी से समता की बात कर ही नहीं सकते।